मनुष्य, पशु-पक्षी इत्यादि जितने भी संसार के प्राणी हैं, सभी शरीर में निवास करने वाली आत्मा हैं। जब साधक साधना द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करता है, तब वह मोक्ष प्राप्त करता है। तब वह योग सिद्ध आत्मा कहलाती है। **सामवेद मन्त्र ७७७** के अनुसार यह योग सिद्ध जीवात्मा पँचभूत रचित सब प्राणियों तथा तीनों लोकों का ईश्वर अर्थात् स्वामी बनता है। अर्थात् ऐश्वर्य युक्त होता है। यहाँ ईश्वर शब्द का अर्थ स्वामी है। श्रीकृष्ण महाराज पूर्ण योगेश्वर, ब्रह्मलीन, ब्रह्म के समान हुए हैं। ऐसे महान पुरुष **अथर्ववेद मन्त्र ९/१०/११** के अनुसार अपनी इच्छानुसार कभी भी मनुष्य के शरीर में आकर दुष्टों का संहार और जनता का उद्धार करके पुनः मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इसी आधार पर श्रीकृष्ण महाराज यहाँ स्वयं को **"भूतानाम् ईश्वरः"** अर्थात् सब भूत प्राणियों का स्वामी हूँ, ऐसा कह रहे हैं। पुनः इस पद का भाव है कि अन्य प्राणी योग सिद्ध पुरुष नहीं हैं। फलस्वरूप मोक्ष के सुख, ऐश्वर्य को प्राप्त नहीं हैं परन्तु श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं, मैं **"भूतानाम् ईश्वरः"** मुक्ति पद में प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य को प्राप्त हूँ अतः सम्पूर्ण भूत प्राणियों का स्वामी हूँ और सबसे श्रेष्ठ हूँ। ऐसा होने पर भी संसार के कल्याणार्थ **"स्वाम् प्रकृतिम्"** अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव को **"अधिष्ठाय"** आधीन करके **"आत्मा-मायया"** स्वयं की माया अर्थात् स्वयं की इच्छा से **"संभवामि"** सम्भव होता हूँ अर्थात् उत्पन्न होता हूँ। इस प्रकार श्रीकृष्ण महाराज जो पूर्ण योगेश्वर, तीनों लोकों के स्वामी, मोक्ष प्राप्त विभूति, युग पुरुष, द्वापर में स्वयं की इच्छा से देवकी माता के गर्भ में आकर उत्पन्न हुए और संसार का कल्याण करके वापिस मोक्ष के सुख में लौट गए।

श्रीकृष्ण उवाच-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

(गीता श्लोक ४/७)

(भरत) हे भरत वंशी अर्जुन **(यदा यदा)** जब जब **(धर्मस्य)** धर्म की **(ग्लानिः)** हानि होती है, **(अधर्मस्य)** अधर्म की **(अभि-उत्थानम्)** चहुँ ओर वृद्धि **(भवति)** होती है **(तदा)** तब **(हि)** ही **(अहम्)** मैं **(आत्मानम्)** आत्मा को **(सृजामि)** रचता हूँ।

अर्थः- हे भरत वंशी अर्जुन जब-जब धर्म की हानि होती है, अधर्म की चहुँ ओर वृद्धि

होती है तब ही मैं आत्मा को रचता हूँ।

भावार्थः- पिछले **श्लोक ४/६** में प्रकृति का अर्थ स्वभाव, आत्मा शब्द का अर्थ स्वयं (मायया) माया शब्द का अर्थ ज्ञान (बुद्धि में ज्ञान) किया है। यह माया शब्द परमात्मा द्वारा चारों वेदों में प्रयोग किया गया है। कुछ वेद मन्त्र प्रस्तुत हैं-**ऋग्वेद मन्त्र १/३२/४** में माया शब्द का अर्थ सूर्य के सामने आने वाली काली-काली घटाएँ कहा है। **मंत्र १/३९/२** में माया शब्द का अर्थ कपट व अधर्मयुक्त कर्म कहा है। **मंत्र ५/६३/७** में माया शब्द का अर्थ आडम्बर कहा है। **सामवेद मंत्र १०६** में माया शब्द का अर्थ छल, कपट कहा है। **ऋग्वेद मंत्र ५/६३/३,४,६, अथर्ववेद मंत्र १२/१/८, मंत्र १३/२/३, सामवेद मंत्र १०४ एवं यजुर्वेद मंत्र ११/६९,** इन सभी मंत्रों में माया शब्द का अर्थ बुद्धि कहा है। इसके अतिरिक्त माया शब्द का अर्थ युक्ति, धोखा, जालसाजी, जादूगरी, अवास्तविक, आभास एवं छाया इत्यादि भी हैं। **ऋग्वेद मण्डल १०** एवं **सांख्य सूत्र १/२६, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।।** के अनुसार सूर्य, मन बुद्धि अथवा काली घटाएँ, कपट, छल, आडम्बर यह सब प्रकृत्ति के रज, तम, सत्त्व इन तीनों गुणों से उत्पन्न हैं तथा जड़ हैं। यह आडम्बर इत्यादि जीवात्मा पर अपना प्रभाव डालता है। अविवेकी जीवात्मा कर्म बन्धन में फँसा प्रकृति के इस विकार में फँस जाता है, दुःखी रहता है और अपना चेतन अविनाशी स्वरूप भूल जाता है। यह माया अथवा योग माया परमात्मा पर अपना तनिक सा भी प्रभाव नहीं डाल सकती। क्योंकि वैदिक वाङ्मय (**यजुर्वेद मंन्त्र ४०/८** इत्यादि) में ईश्वर शुद्ध एवं पाप इत्यादि से पूर्णतः पृथक् है। **ऋग्वेद मंत्र १०/१२९/७** के अनुसार ईश्वर वैसे भी प्रकृति एवं जीवात्माओं का स्वामी है। अतः कोई योग माया इत्यादि परमेश्वर पर कैसे हावी हो सकती है, जिससे ईश्वर अवतार लेने को बाध्य हो या परमात्मा जीव बनकर सुख दुःख भोगने लगे। अतः परमात्मा कभी भी जीव नहीं बनता। जीवात्मा २४ प्रकार के सामर्थ्य से युक्त है जो इस प्रकार हैं-बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान। **गीता श्लोक १३/६** में भी इसका संकेत है। साधारण मनुष्य की मृत्यु होने पर जीवात्मा पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्म भूत, मन एवं बुद्धि इन १७ तत्त्वों सहित शरीर से बाहर निकलता है और कर्मानुसार पुनः

शरीर धारण करता है जिसका वर्णन **शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ काण्ड १४** में दर्शनीय है। परन्तु मुक्त जीवात्मा अपने स्वाभाविक २४ गुणों के साथ होता है और मुक्ति में जीवात्मा का संकल्प मात्र शरीर होता है। अर्थात् अपनी इच्छा शक्ति से शरीर धारण करके मोक्ष का सुख भोगता है। **यजुर्वेद अध्याय ३१, अथर्ववेद काण्ड १९ सूक्त ६ सामवेद मंत्र ६१७ से ६२१, ऋग्वेद मंत्र १०/९०/१-१३** से यह सिद्ध है कि रज, तम एवं सत्त्व यह तीनों गुणों वाली प्रकृति जड़ है, ईश्वर एवं जीवात्मा चेतन तत्त्व हैं। परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति अनादि एवं अविनाशी तत्त्व हैं। **श्वेताश्वतरोपनिषद् श्लोक ६/८** के अनुसार भी ईश्वर के ज्ञान, क्रिया और बल स्वाभाविक हैं अर्थात् अपने-आप होते हैं अतः निश्चित समय पर अपने आप ईश्वर की शक्ति प्रकृति में कार्य करती है। एवं प्रकृति से यह जड़ जगत उत्पन्न हो जाता है। इसी में कर्मानुसार जीवात्माएँ शरीर धारण करती हैं अतः ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता। इन सब प्रमाणों का सारांश यह है कि प्रस्तुत श्लोक भी श्रीकृष्ण महाराज के अवतार को सिद्ध नहीं करता है। श्लोक में 'धर्म की हानि' का अर्थ वेदों में कहे शुभ-सत्य कर्म की हानि है। **वैशेषिक-शास्त्र सूत्र १/१/२** में कणाद ऋषि ने कहा-**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** अर्थात् जिन शुभ कर्मों के करने से इस लोक एवं मृत्यु पश्चात् परलोक (दूसरे जन्म) में भी सुख प्राप्त हो उसे धर्म कहते हैं। **मनुस्मृति श्लोक २/६** में कहा-**(अखिलः वेदः)** संपूर्ण वेद **(धर्ममूलम्)** धर्म के मूल हैं। जैमिनी ऋषि ने पूर्व **मिमांसा शास्त्र श्लोक १/१/२** में कहा कि ईश्वर द्वारा वेदों में मनुष्यों के लिए जिन कर्मों को करने की आज्ञा दी है वही धर्म है अन्यथा अधर्म है। तथा **गीता श्लोक ३/१५** में कहा-**"कर्म ब्रह्मोद् भवम् विद्धि, ब्रह्म अक्षरसमुद् भवम्"** अर्थात् कर्म वेद से उत्पन्न जान तथा वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। अतः धर्म शब्द का अर्थ वेदोक्त शुभ कर्म करने के हैं। जिसके लिए हमें वेदों का अध्ययन करना अति आवश्यक है। अन्यथा अविद्या ग्रस्त होकर प्राणी अन्धविश्वास, थोथे कर्म काण्ड, इत्यादि में फँस कर जीवन व्यर्थ कर लेता है। अतः प्रस्तुत श्लोक का अर्थ हुआ कि जब-जब संसार में **"धर्मस्य ग्लानिः भवति"** अर्थात् वेदोक्त शुभ कर्मों की हानि होती है और वेद-विरुद्ध अधर्मयुक्त कर्मों में वृद्धि होती जाती है तब-तब ही मैं अपनी आत्मा को रचता हूँ अर्थात् मैं शरीर धारण करता हूँ। पिछले श्लोक के विस्तृत वर्णन और उस वर्णन में ही **अथर्ववेद मन्त्र ९/१०/११** के प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज मुक्त जीवात्मा थे जो अपनी मर्ज़ी से कभी भी जन्म लेकर जीवों का

कल्याण करके पुनः मोक्ष सुख में लौट जाते हैं। इसी आधार पर श्रीकृष्ण महाराज यहाँ कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ता है तब मैं अपनी इच्छा से शरीर धारण करता हूँ।

ऋग्वेद मन्त्र ७/३५/१३ में ईश्वर को **"अज एकपात्"** कहा है अर्थात् ईश्वर कभी जन्म नहीं लेता। अज का अर्थ है **"अ + ज"** अ = नहीं और ज = जन्म अर्थात् जिसका कभी जन्म नहीं होता। एकपात् का अर्थ है जिसकी शक्ति के एक अंश मात्र से सारा संसार प्रकृति से मेल करके उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध है कि परमेश्वर अवतार नहीं लेता। श्रीकृष्ण महाराज सिद्ध पुरुष थे, अवतार नहीं थे। उन्होंने अपनी इच्छा से त्रेता युग में शरीर धारण किया था।

श्रीकृष्ण उवाच –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

(गीता श्लोक ४/८)

(साधुनाम्) साधुओं की **(परित्राणाय)** रक्षा के लिए **(च)** तथा **(दुष्कृताम्)** पाप युक्त कर्म करने वाले पापियों के **(विनाशाय)** नाश करने के लिए तथा **(धर्मसंस्थापनार्थाय)** धर्म को स्थापित करने के लिए **(युगे युगे)** युग युग में **(संभवामि)** सम्भव होता हूं, उत्पन्न होता हूँ।

अर्थः- साधुओं की रक्षा के लिये तथा पाप युक्त कर्म करने वाले पापियों का नाश करने के लिए तथा धर्म को स्थापित करने के लिए युग युग में सम्भव होता हूँ अर्थात् उत्पन्न होता हूँ।

भावार्थः- मनुस्मृति श्लोक २/१३ में कहा कि केवल वेद द्वारा ही धर्म का निश्चय होता है, बिना वेद ज्ञान के धर्म-अधर्म का निश्चय करना संभव नहीं। **सांख्य शास्त्र १/६६** में वेद के ज्ञाता ऋषि के ही वचन प्रमाणिक कहे हैं, अन्य के नहीं। इन्हीं सभी आधार पर उपनिषद्, छः शास्त्र, महाभारत (गीता) आदि ग्रन्थों की रचना वेद-विद्या में पारंगत ऋषियों द्वारा होने से यह सब ग्रन्थ प्रमाणिक हैं परन्तु आज हमारे देश का दुर्भाग्य है कि

प्रायः इन ग्रन्थों की व्याख्या वह स्वयंभू सन्त करते हैं जो वेद-विद्या से कोसों दूर हैं और प्रायः वेद एवं वेदों में कही योग-विद्या की निन्दा भी करते हैं। इस प्रकार यह विडम्बना ही है कि हम आज के प्रायः अप्रमाणिक वचनों को सुनकर उन्हें प्रमाणिक सत्संग मान बैठते हैं। प्रस्तुत श्लोक में **'साधूनाम्'** का अर्थ सत्य पर आचरण करने वाले, वेदाध्ययन द्वारा सत्य का निर्णय करने वाले, इन्द्रिय संयम रखने वाले, धन आदि के लोभ में न फँसने वाले, कठोर पुरुषार्थ करने वाले इत्यादि अनेक गुणों से सम्पन्न सत्पुरुषों को साधु-सन्त कहा है। इस प्रकार धर्म पर चलने वाले धर्मात्मा की रक्षा और कुकर्म करने वाले अधर्मियों का नाश करके 'वैदिक धर्म की स्थापना करने के लिए ईश्वरीय शक्ति रूप योगी स्वतः ही प्रकट होता है। प्रस्तुत श्लोक का यही भाव है। गीता एक वैदिक प्रवचन है, अतः वेदों के नियमों की तनिक भी अवहेलना करके गीता के वास्तविक अर्थ प्रकट नहीं हो सकते। चारों वेदों में यह नियम है, **'सत्यमेव जयते'** अर्थात् सत्य की ही जीत होती है। **ऋग्वेद मन्त्र १/९०/९** में कहा **"उरुक्रमः मित्रः नः शम् शं नः भवतु अर्यमा"** अर्थात् सर्वशक्तिमान ईश्वर हमारे लिए सुखकारी हो और **'अर्यमा'** अर्थात् न्याय करने वाला हो। ईश्वर हमें न्याय देने वाला एवं सुख देने वाला हो। अतः न्यायकारी परमेश्वर किसी को निमित्त बनाकर ही सत्य का पलड़ा भारी करता है। एवं किसी को निमित्त बनाकर ही पापियों का नाश करता है और धर्मात्माओं को न्याय दिलाकर सुख देता है। महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण एवं पाण्डव धर्मयुद्ध को जीतने में निमित्त मात्र हैं, ऐसा गीता श्लोक में कह भी दिया गया है। परन्तु वास्तविक ईश्वरीय शक्ति श्रीकृष्ण में प्रकट थी। यह **यजुर्वेद मंत्र ७/४८** में भी कहा नियम है कि जीव कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है अतः चाहे पाप करे, चाहे पुण्य करे। परन्तु कर्मों का फल परमात्मा देता है। परमात्मा सबमें है, सबके कर्मों को देख रहा है अतः उससे डरकर, हमें केवल शुभ कर्म करने चाहिए। रावण के पाप बढ़ चुके थे एवं समयानुसार दशरथ पुत्र श्रीराम में ईश्वरीय शक्ति प्रकट हुई और लंका का अर्थात् असुर वृत्तियों का नाश हुआ। इसी प्रकार दुर्योधन की असुर वृत्तियाँ तथा वेद-विरुद्ध पाप कर्म अत्याधिक बढ़ चुके थे। दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन एवं कणिक शास्त्री, इन चारों की मिलीभगत ने पाण्डवों एवं ऋषि-मुनि, धर्मात्माओं पर अत्याधिक कहर ढाना शुरू कर रखा था जिसका वर्णन महाभारत में सभी जानते हैं, अतः इन आसुरी वृत्तियों का नाश करने के लिए श्रीकृष्ण की जीवात्मा में शरीर रूप में ईश्वर प्रकट हुआ था और न्यायकारी ईश्वर की शक्ति ने महाभारत युद्ध में

"साधूनाम् परित्राणाय" अर्थात् पाण्डव जैसे सज्जन पुरुषों, उस समय के ऋषियों एवं प्राणियों का उद्धार करने के लिए तथा **"दुष्कृताम् विनाशाय"** दुष्टों का नाश करने के लिए और इस प्रकार **'धर्मसंस्थापनार्थाय'** वैदिक धर्म की स्थापना के लिए महाभारत जैसे धर्म युद्ध के माध्यम से सत्य को स्थापित किया। ऐसे शुभ कर्मों के लिए ईश्वर को अवतार लेने की आवश्यकता नहीं होती। **श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/८** के अनुसार पृथिवी पर यह धर्म, न्याय एवं शुभ कर्म नियमानुसार निश्चित समय पर (युगे-युगे) स्वयं होते रहते हैं। भूकम्प, बाढ़, तूफान इत्यादि में छोटे-छोटे बच्चों का बचना, असम्भव का संभव होना, गरीब इन्सान को अचानक न्याय मिल जाना, राजा का रंक एवं रंक का राजा हो जाना, देव एवं असुर संग्राम में देवताओं का विजयी हो जाना, यह सब न्यायकारी कर्म ईश्वर की शक्ति द्वारा हर युग में स्वयं होते रहते हैं। यह किसी के कहने से नहीं होते, स्वयं होते हैं क्योंकि जैसा **यजुर्वेद मन्त्र ७/४८** में उपर कहा कि ईश्वर समय पर कर्मफल स्वयं देता है। हमारे प्राचीन काल के ऋषियों ने उपनिषद्, छः शास्त्र एवं ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में, वेद-विद्या को सरल ढंग से समझाने का ही प्रयास किया है। सम्पूर्ण विद्या तो वेद में ही है, वेदों के अध्ययन से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके ऋषियों ने वेदों से लेकर थोड़ा-थोड़ा ज्ञान ही उपनिषद् आदि में कहा है। गीता के प्रस्तुत **श्लोक ४/८** को ही केन ऋषि, केनोपनिषद् में देवासुर संग्राम द्वारा चरितार्थ कर रहे हैं। केनोपनिषद् के दूसरे खण्ड के अन्त में कहा कि इस जन्म में ही यदि किसी ने उस निराकार, अजन्मा, अविनाशी ब्रह्म को जान लिया तो कल्याण है अन्यथा सर्वनाश है। इस उपनिषद् में कथा आती है कि देवताओं एवं असुरों (देव वृत्ति एवं असुर वृत्ति) में युद्ध हुआ। निश्चित ही परमात्मा की शक्ति ने देवों को विजयी बनाया। परन्तु देवों ने विजय को अपनी ही महिमा समझा अर्थात् विजय के अभिमान वश परमात्मा एवं परमात्मा की शक्ति को भूल गए। देवताओं की इस बात को परमेश्वर ने जान लिया। देवताओं की भलाई के लिए उनके सामने यक्ष के रूप में प्रकट हो गया। देवता उस यक्ष को नहीं जान सके। देवताओं ने अग्नि देव को कहा कि मैं अग्नि हूँ। यक्ष ने कहा तुझमें क्या शक्ति है? अग्नि ने कहा कि मैं पृथिवी के सब पदार्थों को जलाकर राख कर सकती हूँ। यक्ष ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रख दिया और कहा इसे जलाओ। अग्नि ने अपना सम्पूर्ण बल लगा दिया पर तिनके को न जला सकी और देवताओं के पास वापिस लौट गई। पुनः देवताओं ने वायु को भेजा परन्तु वायु भी तिनके को हिला तक नहीं सका और वापिस लौट गया।

अन्त में इन्द्र यक्ष को जानने के लिए यक्ष के पास पहुँचा परन्तु ब्रह्म के रूप में वह यक्ष छिप गया और इन्द्र को वहाँ आकाश में ऊमा नामक स्त्री दिखाई दी और ऊमा ने इन्द्र को बताया कि यक्ष के रूप में तुम्हारे सामने ब्रह्म ही था और तुम्हारी विजय का कारण ब्रह्म है। इस कथा का भाव समझने के लिए वेदाध्ययन की आवश्यकता है जिसका वर्णन लेख बड़ा होने के भय से नहीं किया जा सकता। सारांश यह है कि धर्म स्थापना के लिए प्रत्येक युग एवं समय में जब भी कोई व्यक्ति वैदिक मार्ग पर चलकर कठोर परिश्रम-तप करता है तो उसके अन्दर छिपा हुआ परमेश्वर प्रकट हो जाता है। और इस प्रकार सत्य की विजय परमेश्वर की कृपा से प्राप्त हो जाती है। यह एक वैदिक नियम है। अतः अवतार की कहीं भी आवश्यकता नहीं होती, केवल ईश्वर के बनाए हुए वेदों में कहे वैदिक नियम निश्चित समय पर अपना कार्य, स्वाभाविक रूप से **(स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया, श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/८)** करते रहते हैं। अतः श्रीकृष्ण में ईश्वरीय शक्ति प्रकट थी और इस प्रकार पाण्डवों ने महाभारत का धर्म युद्ध जीता।

श्रीकृष्ण महाराज ने साधुओं की रक्षा, पापियों का नाश और धर्म को स्थापित करने के लिए अपनी इच्छा से शरीर धारण किया था। ऐसे सिद्ध, मुक्त कोई भी पुरुष कभी भी अपनी इच्छा से शरीर धारण कर सकते हैं। अतः श्रीकृष्ण महाराज का भी यही भाव रहा है कि हे अर्जुन! मैं युग-युग में शरीर धारण करके पापियों का नाश करने आऊँगा। साधु शब्द का ऊपर अर्थ कर दिया गया है। दुष्कृताम् अर्थात् पापयुक्त कर्म करने वाले वह होते हैं जो वेद विरुद्ध कर्म करते हैं। धर्म की स्थापना में धर्म शब्द का अर्थ पिछले श्लोकों में वेद शास्त्र के प्रमाण द्वारा कह दिया गया है। पुनः धर्म शब्द का अर्थ वैदिक धर्म है अर्थात् जो-जो कर्म वेदों में शुभ कहे हैं उन्हें करना धर्म है और वेदों के विरुद्ध कर्म करना पाप है। श्रीकृष्ण महाराज वैदिक धर्म के विरुद्ध कर्म करने वाले पापियों का नाश करके और इस प्रकार वैदिक धर्म की स्थापना करके पुनः अपनी मुक्ति के सुख में लौट गए थे। महाभारत ग्रन्थ के मूसल पर्व में व्यास मुनिजी ने जो श्रीकृष्ण महाराज के द्वारा शरीर त्यागने की सत्य कथा कही है वह कथा भी श्रीकृष्ण द्वारा अपनी इच्छा से शरीर त्यागने के सत्य को दर्शाती है। व्यास मुनिजी ने कथा के अन्त में कहा है कि जब श्रीकृष्ण महाराज ने देखा कि उनके सामने ही सभा में बैठे उनके तीनों पुत्रों का वध कर दिया गया है और उनके भ्राता बलरामजी सभा छोड़ कर जंगलों की तरफ अकेले चले गए हैं और बलरामजी ने भी शरीर त्याग दिया है तब श्रीकृष्ण महाराज सब कुछ त्यागकर

जंगल में एक वृक्ष के नीचे बैठकर शरीर त्याग ही रहे थे कि किसी निषाद का तीर उनके पैर के अंगूठे पे आकर लगा। निषाद के क्षमा माँगने पर श्रीकृष्ण ने निषाद को कहा था कि हे निषाद! मैं तो स्वयं ही शरीर त्याग रहा था अतः चिन्ता न कर। और इस प्रकार आसन पर बैठकर श्रीकृष्ण महाराज ने शरीर अपनी इच्छा से त्याग दिया था।

श्रीकृष्ण उवाच –

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।

(गीता श्लोक ४/९)

(अर्जुन) हे अर्जुन **(मे)** मेरा **(जन्म)** जन्म **(च)** और **(कर्म)** कर्म **(दिव्यम्)** दिव्य है **(एवम्)** इस प्रकार **(यः)** जो पुरुष **(तत्त्वतः)** तत्त्व से **(वेत्ति)** जानता है **(सः)** वह **(देहम्)** शरीर को **(त्यक्त्वा)** त्यागकर **(पुनः)** फिर दुबारा **(जन्म)** जन्म को **(न)** नहीं **(एति)** प्राप्त होता है **(माम्)** मुझे **(एति)** प्राप्त होता है।

अर्थः- हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्व से जानता है, वह शरीर को त्यागकर फिर दुबारा जन्म को नहीं प्राप्त होता है, मुझे प्राप्त होता है।

भावार्थः- ऋग्वेद मन्त्र ८/१००/११ में कहा-**"देवाः देवीं वाचं अजनयंत"** अर्थात् विद्वान् पुरुष ही दिव्य वाणी अर्थात् वेदवाणी को सर्वप्रथम उच्चारण द्वारा प्रकट करते हैं। उसके पश्चात ही साधारण पुरुष इस दिव्य वाणी को बोलते हैं। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा है-**"विद्वांस एव देवाः"** अर्थात् जो विद्वान् हैं उन्हीं को देव कहते हैं, जो चारों वेदों के ज्ञाता हैं, उन्हें ब्रह्मा कहते हैं। ऊपर ऋग्वेद के मन्त्र में वेदवाणी को दिव्य वाणी कहा है। जो मन, बुद्धि, अहंकार इत्यादि से उत्पन्न वाणी नहीं है, वही दिव्य वाणी है। वेदवाणी ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण ही दिव्य है, अलौकिक है अर्थात् इस लोक में किसी मनुष्य के द्वारा रचित नहीं है। यह दिव्य वाणी जिस भी तपस्वी के अन्दर योगाभ्यास आदि साधना द्वारा प्रकट होती है, वही दिव्य पुरुष है। ऐसे दिव्य पुरुष में रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण वाली चंचल वृत्ति और इन तीनों गुणों का प्रभाव नहीं रहता। ऐसे योगी के विषय में योगशास्त्र सूत्र

श्रीकृष्ण उवाच –

"आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।"

(गीता श्लोक 10/21)

(अहम्) मैं **(आदित्यानाम्)** अखण्डनीय पदार्थों में **(विष्णुः)** सर्वव्यापक विष्णु हूँ **(ज्योतिषाम्)** ज्योतियों में **(अंशुमान्)** किरण पुंज **(रविः)** सूर्य हूँ (मरुताम्) वायुओं में **(मरीचिः)** मरीचि नामक वायु हूँ **(नक्षत्राणाम्)** नक्षत्रों में (अहम्) मैं **(शशी)** चन्द्रमा **(अस्मि)** हूँ।

अर्थ– मैं अखण्डनीय पदार्थों में सर्वव्यापक विष्णु हूँ, ज्योतियों में किरण सूर्य हूँ। वायुओं में मरीचि नामक वायु हूँ, नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ।

भावार्थ– "आदित्यानाम्" पद का अर्थ है आदित्यों में। 'आदित्य' पद के वेदों में कई अर्थ हैं। जैसे– नक्षत्रों को प्रकाश देने वाला आदित्य अर्थात् सूर्य। **ऋग्वेद मन्त्र 1/105/16** में कहा **"आदित्यः पन्थाः"** अविनाशी सूर्य के समान प्रकाश करने वाला वेदमार्ग। यहाँ आदित्य का अर्थ अखण्ड/अविनाशी है। **यजुर्वेद मन्त्र 31/18** में कहा "आदित्यवर्णम्" अर्थात् आदित्य (सूर्य) के तुल्य जिसका स्वरूप है। अर्थात् परमात्मा सूर्य के समान ज्योतिस्वरूप है

स्वयंप्रकाशक है। विष्णु का अर्थ है– **"विष्लृ व्याप्तौ विष्णुः"** अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर। विष्णु का अर्थ सर्वव्यापक, निराकार परमेश्वर है जो संसार के पदार्थों के कण–कण में समाया हुआ है। यहाँ आदित्य का अर्थ, सृष्टि के अखण्ड पदार्थों से है। अखण्ड पदार्थों में प्रकृति एवं जीवात्माएँ आती हैं। इनमें भी विष्णु (निराकार परमेश्वर) का निवास है।

प्रकृति से जब संसार के पदार्थ बनते हैं उनमें भी परमेश्वर समाया हुआ है। पुनः कहा कि "ज्योतियों में वह ईश्वर सूर्य है।" वेदों में कहा **"ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः"** अर्थात् परमेश्वर ज्योतियों की भी ज्योति है। अतः **यजुर्वेद** मन्त्र **7/42** में कहा **"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** कि वह स्वयंप्रकाशक 'सूर्य' अर्थात् परमात्मा 'जगतः' चेतन और 'तस्थुषः' जड़ जगत का "आत्मा" सर्वव्यापक आत्मा है अर्थात् परमात्मा की ज्योति से ही यह जड़ सूर्य और जड़ जगत प्रकाशमान है। हम उस ही सूर्य के समान परमेश्वर की उपासना करें, अन्य की नहीं।

ऋग्वेद मन्त्र 7/63/3 में भी कहा **"विभ्राजमानः"** वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा **"उष्साम्"** सब प्रकाशित पदार्थों में **"उपस्थात्"** स्थिर है। **ऋग्वेद** मन्त्र **7/63/4** में कहा "भ्राजमानः" प्रकाशस्वरूप "दिवः", रुक्म" द्युलोक अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि को भी प्रकाश देने वाला "उरुचक्षाः" सबको सब ओर से देखने वाला परमात्मा।

अतः वह परमात्मा ही सब ज्योतियों की ज्योति, परम सत्य, निराकार है। हम उसी की उपासना करें, अन्य की नहीं। **यजुर्वेद मन्त्र 9/36** में कहा मरुन्नेत्राः अर्थात् ब्रह्माण्ड में स्थित वायु के समान नीतिवाले "देवाः" जो सबको सुख देने वाले वेदविद्या के विद्वान् हैं। यहाँ मरुत का अर्थ वायु है। "मरुत" वायु को बोलते हैं और उसमें भी जो उत्तम वायु है, उसका नाम मरीचि है। **शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ 9/4/1/9** में चन्द्रमा को गन्धर्व और नक्षत्र अर्थात् उसकी अप्सराएँ हैं, ऐसा कहा है। क्योंकि नक्षत्र सदा चन्द्रमा के साथ रहते हैं और आकाश में प्रकाश करते हैं।

इन नक्षत्रों में परमेश्वर चन्द्रमा है। इस अध्याय में यहाँ से परमेश्वर की विभूतियों का वर्णन है। विभूति का भाव है कि जो निराकार ब्रह्म है उसकी विष्णु, रवि, मरीचि एवं चन्द्रमा आदि यह सब विभूतियाँ/सम्पदाएँ/दिव्य गुण हैं। **यजुर्वेद मंत्र 6/5** में कहा "सूरयः" वेद के ज्ञाता, विद्वान् "विष्णोः" सर्वव्यापक तथा जगत की रचना, पालना और संहार करने वाले सर्वव्यापक परमेश्वर का **(परमम्)** सबसे उत्तम **(पदम्)** पद **सदा (पश्यन्ति)** देखते हैं।

भाव यह है कि ब्रह्माण्ड में परमेश्वर से बढ़कर उत्तम कोई भी अन्य पदार्थ न था, न है और न होगा। **यजुर्वेद मन्त्र 31/4** के अनुसार उस परमेश्वर की शक्ति के एक अंश मात्र से प्रकृति तत्त्व से विश्व के समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। इस श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज यह समझा रहे हैं कि जड़ पदार्थों में भी परमेश्वर है और जड़ पदार्थों में जो सर्वश्रेष्ठ जड़ पदार्थ है, वह भी ईश्वर का अंश ही है अर्थात् ईश्वर के अंश मात्र शक्ति से उत्पन्न हुआ है। अतः जैसे अविनाशी पदार्थों में परमेश्वर विष्णु है, ज्योतियों में सूर्य है इत्यादि अर्थात् विष्णु, रवि (सूर्य) मरीचि एवं चन्द्रमा जैसे अपने–अपने स्थान में, अपने पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ हैं उसी प्रकार पूरे ब्रह्माण्ड में ईश्वर सर्वोत्तम परम पद है और चन्द्रमा आदि भी परमेश्वर की ही विभूतियाँ हैं। जैसे तारों में सबसे उत्तम चन्द्रमा है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में सबसे उत्तम परमेश्वर है, इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि परमेश्वर चन्द्रमा, सूर्य, मरीचि आदि जड़ पदार्थ नहीं है अपितु यह सब उसकी विभूतियाँ हैं। यहाँ भी यही कहना उचित है कि यदि हम वेदविद्या का ज्ञान प्राप्त नहीं करेंगे तो हम गीता ग्रन्थ के सत्य अर्थ नहीं जान पाएँगे। जब हम अन्य ग्रन्थ पढ़–सुन रट सकते हैं तो फिर अनादिकाल से चली आ रही ईश्वरीय वाणी वेद किसी विद्वान् से क्यों नहीं सुन सकते? अतः वेद कठिन नहीं हैं क्योंकि वेदों को प्रथम सुनना है और सुनना कठिन नहीं होता।

परमात्मा के गुण, कर्म–**सामवेद मन्त्र 944** में भी कहे गए हैं। परमात्मा के गुण व कर्म की उपमा संसार की सबसे अधिक उत्कृष्ट वस्तुओं से कही जाती है परन्तु सत्य यह है कि परमात्मा संसार में सबसे महान, अद्वितीय है, उसकी उपमा संसार के किसी भी पदार्थ से नहीं की जा सकती

प्रस्तुत श्लोक में कवि, विप्र आदि मुख्य शक्तियों वाले पदार्थों का दृष्टान्त देकर परमात्मा की ही मुख्यता का वर्णन किया गया है। अर्थात् जिस प्रकार ज्योतियों में किरण पुंज सूर्य है, तो सूर्य जो कि जड़ पदार्थ है वह संसार की सब ज्योतियों से महान/उत्कृष्ट ज्योति है। संसार में सूर्य की ज्योति से बढ़कर अन्य किसी पदार्थ की ज्योति नहीं है। परन्तु सूर्य को भी ज्योति देने वाला चेतन, स्वयं प्रकाशक परमेश्वर है। अतः संसार में परमेश्वर से बढ़कर सूर्य की भी ज्योति नहीं है। अतः सूर्य की तो संसार की अन्य छोटी ज्योतियों से उपमा की गई है, परन्तु ईश्वर तो ज्योतियों की भी ज्योति है उसकी तो उपमा किसी भी पदार्थ से नहीं की जा सकती।

श्रीकृष्ण उवाच–

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।

(गीता श्लोक 10/22)

(वेदानाम्) चारों वेदों में **(सामवेदः)** मैं सामवेद **(अस्मि)** हूँ **(देवानाम्)** देवों में (वासवः) परम ऐश्वर्यवान वसु **(अस्मि)** हूँ **(च)** और **(इन्द्रियाणाम्)** इन्द्रियों में **(मनः)** मन **(अस्मि)** हूँ **(भूतानाम्)** सब जड़ एवं चेतन प्राणियों में (चेतना) चेतन शक्ति **(अस्मि)** हूँ।

अर्थ– चारों वेदों में मैं सामवेद हूँ देवों में परम ऐश्वर्यवान वसु हूँ और इन्द्रियों में मन हूँ सब जड़ एवं चेतन प्रणियों में चेतन शक्ति हूँ।

भावार्थ– **यजुर्वेद के 31वें अध्याय** के, **सामवेद के छठे अध्याय चतुर्थी** दशतिः के मन्त्र **616 से** आगे **ऋग्वेद मंडल 10 सूक्त 90** और **अथर्ववेद** काण्ड 19 सूक्त 6 में सृष्टि रचना का वर्णन है। परन्तु **यजुर्वेद मंत्र 31/7** एवं ऋग्वेद मंत्र **10/90/9** में सृष्टि रचना के साथ–साथ वेदों की उत्पत्ति का रहस्य भी समझाया गया है। वहीं पर सृष्टि क्रम में स्पष्ट किया है कि

वालों में मैं हिमालय हूँ। हिमालय भी परमेश्वर की विभूति कही जाएगी। क्योंकि जिस प्रकार परमेश्वर संसार में अचल, अटल, स्थिर है उसी प्रकार हिमालय पर्वत भी है जो अपने स्थान से नहीं हिलता। **यजुर्वेद मंत्र 40/5** में स्पष्ट कहा है "तत् न एजति" अर्थात् परमेश्वर स्थिर है, वह हिलता–जुलता, चलता नहीं। कारण यह है कि उसको हिलने–जुलने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि वह सर्वव्यापक है। भाव है कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड में कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ परमेश्वर न हो। अतः एक स्थान पर रहते हुए ही परमेश्वर संसार के सब कार्य करने में समर्थ है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वह किसी सवारी पर चढ़कर भक्त को बचाने दूसरे स्थान पर तेजी से जाए।

अतः हम वेदों को सुनकर ही भगवद्गीता ग्रंथ के सत्य अर्थों का ज्ञान प्राप्त करें। हमें आज पुनः यह आवश्यकता आन पड़ी है कि हम "वेदों की ओर लौटें" और संसार में अविद्या का नाश वेद विद्या के प्रकाश से करें।

अतः वेद एवं योग विद्या न जानने वाले इस महान् गीता के ग्रन्थ को कैसे जान सकते हैं। वह तो असत्य बोलने के लिए मजबूर हैं क्योंकि ऊपर कहे ऋग्वेद के किसी भी मंत्र एवं निरुक्त ग्रन्थ के श्लोक 11/19 के अनुसार उनका जीवन व्यापन नहीं हो रहा है, अपितु साधारण जन के अनुसार है।

श्रीकृष्ण उवाच–

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीनां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।

(गीता श्लोक 10/26)

हे अर्जुन मैं **(सर्ववृक्षाणाम्)** सब वृक्षों में **(अश्वत्थः)** पीपल का वृक्ष हूँ (च) और **(देवर्षीणाम्)** देवऋषियों में **(नारदः)** नारद ऋषि हूँ (गन्धर्वाणाम्) गन्धर्वों में **(चित्ररथः)** चित्ररथ हूँ और **(सिद्धानाम्)** सिद्धों में (कपिलः) कपिल **(मुनिः)** मुनि हूँ।

अर्थ– हे अर्जुन मैं सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष हूँ और देवऋषियों में नारद ऋषि हूँ। गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ और सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

भावार्थ– संसार भर के सब वृक्षों में पीपल वृक्ष के ही गुण अधिक हैं। अतः पीपल भी ईश्वर की विभूति है। देव ऋषियों में नारद पद प्राप्त ऋषि सर्वश्रेष्ठ है। गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि श्रेष्ठ है। यह सब ईश्वर की विभूतियाँ हैं। ईश्वर की श्रेष्ठता से यह अपने–अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ हैं। इन सभी विभूतियों में अन्य से कुछ विशेष गुण होते हैं। परन्तु ईश्वर में तो असंख्य दिव्य गुण हैं। अतः संसार में ईश्वर की सभी विभूतियों से स्वयं परमेश्वर सर्वश्रेष्ठ है। **अथर्ववेद काण्ड 4 के सूक्त 37** में भी कई औषधियों का वर्णन है। इसी सूक्त के मन्त्र 4 में कहा **"यत्र अश्वत्थाः महावृक्षाः प्रतिबुद्धाः अभूतन"**– जहाँ पीपल जैसे महावृक्ष ज्ञान का विषय बन गए हैं "तत् परेत" वहाँ से रोग के कीटाणु दूर भाग जाओ। भाव है कि पीपल के वृक्ष को वेद ने महावृक्ष कहा है जो कि अनेक रोग के कीटाणुओं का नाशक है। जब स्वयं परमेश्वर इस वेद मंत्र में पीपल के वृक्ष को महावृक्ष कह रहें हैं अर्थात् सब वृक्षों में उत्तम कह रहें हैं तब पीपल के वृक्ष को ईश्वर की विभूति कहने में क्या संदेह रह जाता है। श्री कृष्ण ईश्वर की ओर से ही कह रहे हैं कि पीपल का महावृक्ष सब वृक्षों में उत्तम है। अतः ईश्वर की एक विभूति है। हम गीता के श्लोक का यह अर्थ न करें कि ईश्वर तथा श्री कृष्ण महाराज सब वृक्षों में पीपल हैं और इस पीपल को पूजने लगें। पूजा तो हम केवल एक निराकार, सृष्टि रचयिता परमेश्वर की करें जो अपनी सब विभूतियों में स्थिर है– समाया हुआ है। **अथर्ववेद मंत्र 3/6/1, यजुर्वेद मंत्र 12/79, अथर्ववेद मंत्र 6/95/1,** एवं शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ 13/8/3/1 आदि में भी "अश्वत्थ" पद का विभिन्न प्रकार से प्रयोग हुआ है।

अथर्ववेद मंत्र 12/4/24 में कहा कि "नारदः" यथार्थ ज्ञान देने वाला विद्वान् **(वशाम्)** इस वेद वाणी को **(विद्यात्)** जाने। यहाँ "नारद" शब्द का अर्थ यथार्थवक्ता–वेद वाणी को जानने वाला ऋषि है। इस मंत्र में नारद किसी का नाम नहीं है अपितु पद है जो कि वेदाध्ययन, योगाभ्यास के पश्चात्

प्राप्त होता है। यहाँ श्री कृष्ण महाराज देव ऋषियों में श्रेष्ठ नारद को कह रहे हैं जो ईश्वर की विभूति है। **अथर्ववेद 4/30/3** के अनुसार ऋषि पद भी कठोर वेदाध्ययन, अष्टांग योग की साधना करने वाले साधक को स्वयं परमेश्वर प्रदान करता है। और वेदों में परमेश्वर ही कह रहें हैं कि "नारद" स्पष्ट वक्ता वेद विद्या का ज्ञाता है। परन्तु वेदों में कही सकल विद्याओं का ज्ञाता तो स्वयं ब्रह्म है। श्री राम के समय में नारद नाम से विख्यात भी एक देवऋषि हुए हैं। जिनका वर्णन छान्दोग्योपनिषद् 7/1/2 में भी आया है। वह स्पष्ट वक्ता एवं सम्पूर्ण वेद विद्याओं के ज्ञाता हुए हैं। नारद अपने गुरु सनतकुमार के पूछने पर कहते हैं कि "मै ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद चारों वेदों का ज्ञाता हूँ। इतिहास– पुराण, वेदों का वेद=व्याकरण तथा निरुक्त, वायुविज्ञान, राशि=गणितविद्या, दैव=प्रकृति विज्ञान, निधि=भूगर्भविद्या, वाकोवाक्य=तर्कशास्त्र, एकायन=ब्रह्मविज्ञान, इन्द्रिय–विज्ञान, भक्ति–शास्त्र, पंचभूत–ज्ञान, धनुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र, सर्पविज्ञान, देवजन–विज्ञान=सर्पों को वश में करने वाली=गन्धर्व विद्या को मैं जानता हूँ। इतना मैंने अध्ययन किया है। **अथर्ववेद मंत्र 12/4/41,42,43,45** में "नारद" पद का अर्थ स्पष्टवक्ता नीति बताने वाला आचार्य कहा है। क्योंकि वेदों में नारद पद आया है। अतः नारद पद को प्राप्त कोई भी देवऋषि चारों वेदों एवं योग विद्या का ज्ञाता तो स्वतः ही होता है। **अथर्ववेद मंत्र 4/37/11** एवं **12** में "गन्धर्व" पद का अर्थ गायन करने वाला कहा है। **ऋग्वेद मंत्र 10/123/7** में "गन्धर्व" का अर्थ पृथिवि आदि लोकों को धारण करने वाला परमेश्वर कहा है। **अथर्ववेद मंत्र 8/10(5)/5, 6** में कहा **"सा गन्धर्वाप्सरसः"** अर्थात् ज्ञान की वाणी वेद को धारण करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रियों आदि के पास वेद वाणी आई। आगे कहा **"तस्याः वत्सः चित्ररथः"** उन वाणियों का प्रिय ज्ञान वाला शरीर **"सौर्यवर्चसः"** सूर्य के समान वर्चस्वी था इत्यादि। सम्पूर्ण **अथर्ववेद मंत्र 8/10/(5)/5,6,7,8** का भाव है कि जो भी विद्वान् साधना द्वारा वेद वाणी को अपने अन्दर धारण करता है वह ज्ञान युक्त शरीर वाला "चित्ररथ" है। वह सूर्य के समान तेजस्वी होकर समाज को वेद विद्या आदि लाभ देने वाले होते हैं। "गन्धर्व" वेद विद्या का ज्ञान प्राप्त करते हैं। सामवेदादि का गायन करते हैं और जो सम्पूर्ण चारों वेदों के ज्ञान को तप द्वारा स्वयं में धारण कर लेता

है वह ही ज्ञानवान शरीर वाला "चित्ररथ" है। अतः प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज ईश्वर की ओर से कह रहें हैं कि वह गन्धर्वों में "चित्ररथ" है। वेदों में "चित्ररथ" एक पद है ना कि नाम। यह नाम तो कोई भी रख सकता है। जैसा कि महाभारत में भी "चित्ररथ" नामक कोई गन्धर्व हुआ है जिसका अर्जुन से युद्ध हुआ था। परन्तु जैसा कि इस नाम के गुण कहें हैं उन गुणों को धारण करने वाला तो बिरला ही होता है। वह बिरला पुरुष/नारी "चित्ररथ" है जो कि परमेश्वर की एक विभूति है। परन्तु परमेश्वर चित्ररथों का भी चित्ररथ है अर्थात् परमेश्वर से ही तो चारों वेदों की विद्या उत्पन्न हुई है। **ऋग्वेद मंत्र 10/27/16** में कहा **"दशानाम् एकमं कपिलं समानं"** अर्थात् दशों इन्द्रियों का एक आनन्दरूप स्वरूप से आनन्द वाला जीव। यहाँ कपिल" का अर्थ आनन्द स्वरूप जीव है। इन्द्रियाँ ही शरीर को कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं। जीव प्रकृति से संबन्ध रखकर अविद्यावश अपने स्वरूप को भूला हुआ है। अतः इस वेद मंत्र में भी "कपिल" आनन्दस्वरूप जीव का नाम है किसी शरीरधारी मनुष्य का नहीं। वस्तुतः कोई भी नाम को धारण कर सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि वेदाध्ययन, योगाभ्यास के पश्चात् अपने आनन्द–स्वरूप, चेतनस्वरूप को जानता है अर्थात् हर कोई अपने स्वरूप को नहीं जानता, कोई ऋषि–मुनि ही जानता है वह ही "कपिल" का पद धारण किए हुए है, जो कि परमेश्वर की एक विभूति है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि द्वापर में ही वेद विद्या में पारंगत योग सिद्धि से सम्पन्न अपने स्वरूप में स्थित सिद्ध पुरुष कपिल मुनि भी हुए हैं। मंत्र का भाव है कि मनुष्य के शरीर में स्वरूप से तो आनन्दस्वरूप कपिल अर्थात् जीवात्माएँ रहती हैं परन्तु कर्म बन्धन में फँसकर दुःखी हैं। उन दुःखी जीवात्माओं में जो वेदाध्ययन, यज्ञ, तप आदि से अपने आनन्दस्वरूप में स्थित हो जाती है वह ही "कपिल" है। ऐसे "कपिल" जीवात्मा को ही ईश्वर अपनी विभूति कह रहे हैं।

ऋषि–मुनि तो साधना के पश्चात् ही परमेश्वर से ही आनन्दरस लेते हैं परन्तु "कपिल" में भी जो सर्वश्रेष्ठ सुख दाता और आनन्द दाता है वह तो परमेश्वर ही है।

अतः ईश्वर से उत्पन्न वेद ज्ञान ही गीता, शास्त्र, उपनिषद् आदि ग्रन्थों के भेद प्रकट करता है अन्य नहीं। हमें सुख सम्पदा के लिए वेद ज्ञान की आवश्यकता है।